सामाजिक-जीवन

: १ :

समाज-सुधार

आज 'समाज-सुधार' सप्ताह का प्रथम दिवस है। समाज क्या है? और उसका सुधार कैसे होता है? यह एक महत्वपूर्ण विचारणीय विषय है। यह विषय केवल इसी वर्तमान युग में विचारणीय है, ऐसी बात नहीं है। अतीत काल के इतिहास को पढ़िए, तो उस में भी आप इस विषय की गम्भीर चर्चा सुन सकेंगे। अपने युग के सामाजिक दोषों का परिमार्जन भगवान् महावीर और गौतम बुद्ध ने भी किया था। इसी प्रकार समय समय पर समाज के सुधार का कार्य होता ही रहता है। 'समाज सुधार' आज का ही कोई नया कदम नहीं है।

आइए, हम पहले इस प्रश्न पर विचार कर लें, कि समाज क्या चीज है? समाज का स्वरूप समझ लेने पर समाज का सुधार कैसे हो? इस प्रश्न पर विचार करना उचित होगा। हम समाज को खोजने चलते हैं, तो ऐसा मालूम पड़ता है, कि समाज का कहीं अस्तित्व ही नहीं है। जिधर देखो उधर और जहाँ देखो, वहीं

व्यक्ति ही व्यक्ति नजर आता है। उससे भिन्न, उससे अलग समाज का कहीं अस्तित्व नहीं है, सत्ता नहीं है। जैसे अङ्गों और उपांगों से सर्वथा भिन्न शरीर का अस्तित्व नहीं है और जल-कणों से सर्वथा भिन्न समुद्र का कोई अस्तित्व नहीं है, उसी प्रकार व्यक्तियों से भिन्न समाज की सत्ता नहीं है। अतएव व्यक्ति-व्यक्ति के जीवन का उत्थान ही समाज के जीवन का उत्थान है और व्यक्तियों का अधःपतन ही समाज का अधःपतन है,—क्योंकि एक-एक व्यक्ति के मिलने से परिवार बनता है और परिवारों का समूह समाज का रूप धारण करता है। एक-एक परिवार की इकाइयाँ जब सामूहिक जीवन को प्राप्त करती हैं, उनमें सामूहिक सुख-दुःख की भावना जागृत होती है और जब प्रत्येक व्यक्ति यह समझ लेता है कि समूह के उत्थान में हमारा उत्थान है और उसके गिरने में हमारा गिरना है, और इस प्रकार जब समूहगत अखंड चेतना जागृत हो जाती है और समूह में व्यक्ति घुल मिल जाता है, तब समाज का निर्माण होता है।

इस प्रकार हम समाज को अलग खोजने चलेंगे तो वह कहीं नहीं मिलेगा। वस्तुतः परिवारों की इकाइयाँ मिल कर ही समाज का निर्माण करती हैं।

मनुष्यों की भाँति पशुओं में भी सामूहिक प्रवृत्ति देखी जाती है। उनमें पारिवारिक जीवन भी है और बहुत-से पशु समाज के रूप में अपने अपने दल बना कर भी चलते हैं। इस रूप में जैसा मनुष्यों का समाज है, उसी प्रकार पशुओं का भी समाज होता है। किन्तु दोनों के समूहों में बड़ा भारी अन्तर है। जब हमारे आचार्यों ने समाज के प्रश्न को हल करना शुरू किया और कहा कि अनेक मनुष्य मिल कर समाज बनता है और यही बात पशुओं में भी दिखाई दी तो उन्होंने दो विधान किये। उन्होंने मनुष्यों के समूह को तो 'समाज' का रूप दिया और पशुओं के समूह को 'समज'

कहा। दोनों में कोई बड़ा अन्तर नहीं सिर्फ एक मात्रा का अन्तर है। किन्तु यह एक मात्रा का अन्तर दोनों की भावना में महान् अन्तर की ओर इंगित करता है।

तो 'समज' और 'समाज' की भावना में क्या अन्तर है? हमारे पूर्वाचार्य कहते हैं कि जो केवल ओघसंज्ञा रखते हैं, जिन्हें ज्ञान का प्रकाश नहीं मिला है, जिनमें सामूहिक उत्थान का संकल्प जागृत नहीं है और जो एक दूसरे में घुल मिल कर सामूहिक प्रगति नहीं कर सकते, उनका समूह 'समज' कहलाता है। इसके विरुद्ध सामूहिक प्रगति का संकल्प लेकर, अपने आसपास की जिन्दगियों को भी उठाते हुए और दूसरों के सुख-दुःख में अपने आपको साझीदार बनाते हुए जो चलते हैं, उनका समूह 'समाज' कहलाता है।

इस व्याख्या के अनुसार मनुष्यों का समाज भी अगर कोरा समूह ही है, इकट्ठा हो गया है और उसमें एक दूसरे के प्रति सहानुभूति, संवेदना और प्रेम नहीं है, सामूहिक उत्थान की भावना नहीं है, स्वयं ऊँचा उठने और साथ ही दूसरों को ऊँचा उठाने का संकल्प नहीं है, बल्कि गिराने का संकल्प है, तो क्या ऐसा समूह समाज कहलाने का अधिकारी है? जो व्यक्ति अपने लिए महलों का निर्माण कराने तो चलें, किन्तु अपने आसपास की झोंपड़ी को महल बनाने न चलें, जो अपनी ही सुख-सुविधा में बंध गये हों और दूसरों के सुख दुःख के साझीदार न हों और इस प्रकार जो अपने आप तक ही सीमित होकर चल रहे हों, उनका गिरोह भले एक साथ चल रहा हो, उसे हम 'समाज' नहीं कह सकते, 'समज' ही कहेंगे।

समाज जिस अनिवार्य शर्त के कारण 'समाज' कहलाता है, हमें निर्णय कर लेना है कि वास्तव में वह उस शर्त को पूरा करता है या नहीं? और यदि उस शर्त को पूरा नहीं करता तो उसे समाज

कैसे कहा जा सकता है ? उस गिरोह को पशुओं का समाज या समज ही कहना चाहिए।

पशुओं के गिरोह में भविष्य के सकल्प के सबध में कोई निश्चित धारणा नहीं होती है और जीवन विकास की कोई योजना नहीं होती है। उसमें यह बुद्धि भी नहीं होती कि हम किस प्रकार अपने भविष्य का निर्माण करें ? पशु अपने ही और वर्त्तमानकालीन ही सुख-दुःख को लेकर चलते हैं। मरने वाले मर जाते हैं और गिरने वाले गिर जाते हैं, किन्तु उनकी कुछ भी परवाह न करता हुआ गिरोह आगे चलता जाता है।

यदि ऐसी ही वृत्ति समाज की है कि गिरोह चल रहा है और कोई गिर जाता है, पिछड जाता है और सकट में फँस जाता है और दूसरों को यह खयाल नहीं आता कि हमारा साथी क्यों पीछे रह गया ? उसमें क्या दुर्बलता है कि जिससे वह हमारे साथ नहीं चल सका ? और वे उसकी सहायता नहीं करते और आगे चले जाते हैं तो वे भी पशुओं के गिरोह की तरह ही हुए। जैसे पशुओं के गिरोह में से कोई लूला-लगडा पशु पिछड जाता है तो उसके लिए कोई नहीं ठहरता है, इसी प्रकार मनुष्य गिरोह भी अपने पीछे रह जाने वाले साथी का खयाल नहीं करता और आगे बढ़ जाता है, तो मैं कहता हूँ कि पशुओं के चलने में और मनुष्यों के चलने में कोई अन्तर नहीं।

अभिप्राय यह है कि समाज के सुधार और उत्थान के लिए हममें सामूहिक चेतना आनी चाहिए। व्यक्ति या परिवार के रूप में सोचने की कला हमें बदल देनी चाहिए और सामाजिक रूप में सोचने की कला अपने जीवन में जाग्रत करनी चाहिए। धर्म का मार्ग और मोक्ष का मार्ग इसी कला में सन्निहित है। मैं समझता हूँ कि

धर्म का मार्ग और मोक्ष का मार्ग इससे भिन्न नहीं है। भगवान् महावीर की भावना तो इस रूप में हमारे सामने व्यक्त हुई है —

सव्वभूयप्पभूयस्स, सम्म भूयाई पासओ।
पिहिआसवस्स दंतस्स, पावकम्म न बंधइ॥
—दशवैकालिक

प्रश्न पूछा गया कि जीवन में कदम-कदम पर पाप लगता है, जीवन का समस्त क्षेत्र पापों से घिरा हुआ है, और जो धर्मात्मा बनना चाहता है उसे पापों से बचना होगा, किन्तु पापों से बचाव हो कैसे सकता है?

तब भगवान् महावीर ने कहा—तू पहले यह देख कि तू संसार के प्राणियों के साथ एकरस हो चुका है या नहीं? तेरी वृत्तियाँ उनके साथ एकरूप हो चुकी हैं या नहीं? तेरी आँखों में उन सब के प्रति प्रेम बसा है या नहीं? यदि तू उनके प्रति एकरूपता लेकर चल रहा है, संसार के प्राणी मात्र को समभाव दृष्टि से, विवेक और विचार की दृष्टि से देख रहा है—उनके सुख-दुःख को अपना ही सुख-दुःख समझ रहा है तो तुझे पाप-कर्म नहीं बँधेंगे।

अहिंसामय जीवन के भी विकास का एक क्रम होता है। कुछ अपवादों को अलग कर दिया जाय तो साधारणतया उस क्रम से ही अहिंसात्मक भावना का विकास होता है। मूल रूप में मनुष्य अपने आपमें ही घिरा रहता है, अपने शरीर के मोह को लेकर उसी में बँधा रहता है। फिर मनुष्य में थोड़ी क्रांति आई और उसने अपने परिवार को महत्त्व देना शुरू किया। तब वह अपने क्षुद्र सुख दुःख में से बाहर निकल कर माता, पिता, पत्नी और सन्तान के पालन पोषण के लिए चला। उस समय वह स्वयं भूखा रह गया किन्तु परिवार को भूखा नहीं रहने दिया। खुद प्यासा रह कर भी परिवार

को पानी पिलाने के लिए तैयार हुआ। स्वयं बीमार रहा किन्तु माता, पिता और सन्तान के लिए उसने जरूर औषधियाँ जुटाईं। इस रूप में उसकी सहानुभूति, आत्मीयता और संवेदना व्यक्ति के क्षुद्र घेरे को पार करके अपने कुटुम्ब तक फैली। इस रूप में उसकी अहिंसा की वृत्ति आगे चली और सुन्दर रूप में विकसित हुई।

इस तरह अहिंसा का विकास होने पर यदि मनुष्य को स्वार्थों ने घेर रक्खा है तो मानना चाहिए कि अमृत में जहर मिला है और उस जहर को अलग कर देना ही चाहिए। किन्तु यदि मनुष्य अपने परिवार के लिए भी कर्त्तव्यबुद्धि से काम कर रहा है और उसमें आसक्ति और स्वार्थ का भाव नहीं रख रहा है और उनसे सेवा लेने की वृत्ति न रख कर अपनी सेवा देने की ही भावना रखता है, बच्चों को उच्च शिक्षण दे रहा है और समाज को सुन्दर और होनहार युवक देने की तैयारी कर रहा है, और उसकी यह भावना नहीं है कि बालक होशियार होकर मेरी सेवा करेगा और मेरे लिए धन जुटाएगा, बल्कि वह सोचता है कि बालक तैयार होकर अपने समाज, देश और जगत् की सेवा करेगा और मेरे परिवार को चार चाँद लगाएगा। इस रूप में यदि उच्च भावना काम कर रही है तो आप इस उच्च भावना को कैसे अधर्म कहेंगे? मैं नहीं समझता कि वह अधर्म है।

जैनधर्म जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में से मोह को दूर करने की बात कहता है, किन्तु उत्तरदायित्व को झटक कर फैंक देने की बात नहीं कहता। श्रावकों के लिए भी यही बात है और साधुओं के लिए भी यही बात है। साधु अपने शिष्य को किस भावना से पढ़ाता है? इसी भावना को लेकर न कि शिष्य अपने जीवन को उच्च बना सके, अपना कल्याण कर सके और संघ का भी कल्याण कर सके। इसी महान् आदर्श को सामने रख कर साधु अपने शिष्य को पढ़ाता

है, इस स्वार्थमयी भावना को लेकर नहीं कि मेरे पढ़ाने के बदले वह मेरे लिए आहार-पानी ला दिया करेगा और मेरी सेवा किया करेगा। ऐसी क्षुद्र वृत्ति से अस्पृष्ट रह कर वह अपने शिष्य को गुरु बनने की कला सिखा रहा है तो भगवान् कहते हैं कि वह गुरु अपने लिए महत्त्वपूर्ण निर्जरा का मार्ग तलाश कर रहा है और कर्मों को खपा रहा है।

यों तो गुरु भी शिष्य के मोह में फँस जाता है, किन्तु जैन धर्म उस मोह से बचने की बात कहता है, अपने उत्तरदायित्व को दूर फैंकने की बात नहीं कहता। बस, यही बात गृहस्थ के विषय में भी समझनी चहिए।

इस प्रकार आप जिस समाज में हैं, आपको जो समाज, राष्ट्र और देश मिला है, उसके प्रति सेवा की उच्च भावना अपने मन में रक्खो, अपने व्यक्तित्व को समाजमय और देशमय और अन्तत प्राणिमय बना डालो। आज दे रहे हैं तो कल ले लेंगे, इस प्रकार की अन्दर में जो सौदेबाजी की वृत्ति है—स्वार्थ की वासना है—उसे निकाल फैंको और फिर विशुद्ध कर्त्तव्य-भावना से निस्स्वार्थ-भावना से जो कुछ करोगे, वह सब धर्म बन जायगा। मैं समझता हूँ, समाजसुधार के लिए इससे भिन्न कोई दूसरा दृष्टिकोण नहीं हो सकता।

आप समाज-सुधार की बात करते हैं, किन्तु मैं कह चुका हूँ कि समाज नाम की कोई अलग चीज नहीं है। व्यक्ति और परिवार मिल कर ही समाज कहलाते हैं। अतएव समाजसुधार का अर्थ है-व्यक्तियों का और परिवारों का सुधार करना। पहले व्यक्ति को सुधारना पड़ेगा और फिर परिवार को सुधारना होगा। और जब अलग अलग व्यक्ति और परिवार सुधर जाते हैं तो फिर समाज स्वयमेव सुधर जाता है।

आप समाज को सुधारना चाहते हैं ? बड़ी अच्छी बात है। आपका उद्देश्य प्रशस्त है और आपकी इच्छा सराहनीय है। मगर यह तो बतला दीजिए कि आप समाज को नीचे से सुधारना चाहते हैं या ऊपर से ? पेड़ को हरा भरा और सजीव बनाने के लिए पत्तों पर पानी छिड़क रहे हैं या जड़ में पानी दे रहे हैं ? अगर आप पत्तों पर पानी छिड़क कर पेड को हरा-भरा बनाना चाहते हैं तो आपका उद्देश्य पूरा नहीं होने का।

आज तक समाज-सुधार के लिए जो तैयारियाँ हुई हैं, वे ऊपर से सुधार करने की तैयारियाँ हुई हैं, अन्दर से सुधारने की नहीं। अन्दर से सुधार करने का अर्थ यह है कि एक व्यक्ति, जो चाहता है कि समाज की बुराइयाँ दूर हों सर्वप्रथम अपने व्यक्तिगत जीवन में से उन बुराइयों को दूर कर देना चाहिए। उसे गलत विचारों, मान्यताओं और गलत व्यवहारों से अपने आपको बचाना चाहिए। यदि वह व्यक्ति अपने व्यक्तिगत जीवन में उन बुराइयों से मुक्त हो जाता है और उन गलतियों को ठुकरा देता है, तो एक दिन वे परिवार में से ठुकरा दी जाएँगी और फिर समाज में से भी ठुकरा दी जाएँगी।

इसके विपरीत कोई व्यक्ति सामाजिक बुराइयों का ठुकराने योग्य मानता है, समाज की रूढ़ियों को समाज के लिए राहु के समान समझता है, और उनसे मुक्ति पाने में ही समाज का कल्याण मानता है, किन्तु स्वय उन बुराइयों और रूढियों को ठुकराता नहीं, ठुकराने की हिम्मत करता नहीं है और चाहता है कि पहले दूसरे ठुकराएँ तो मैं भी ठुकराऊँ और अकेला मैं कैसे ठुकराऊँ, तो इस प्रकार की दुर्बलता से समाज का कल्याण नहीं हो सकता। यह दुर्बल भावना समाज-सुधार के मार्ग का सब से बड़ा रोड़ा है।

आपके यहाँ विवाह संबंधी जो रीतियाँ आज प्रचलित हैं वे किसी जमाने में सोच विचार कर चलाई गई थीं । और चलाई गई थीं, उससे पहले प्रचलित नहीं थी। संभव है, आज जिन रीति-रिवाजों से आप चिपटे हुए हैं, वे जब प्रचलित किये गये होंगे तो उस समय के लोगों ने नयी चीज समझ कर इनका विरोध किया होगा, और इन्हें अमान्य किया होगा। किन्तु तत्कालीन दीर्घदृष्टि समाज के नायकों ने साहस करके इन्हें अपना लिया और फिर धीरे धीरे यह रीति-रिवाज सर्वमान्य हो गये। उस समय इनकी बड़ी उपयोगिता रही होगी। मगर प्रथम तो समाज के सम्पर्क में आने पर धीरे धीरे उन रीति रिवाजों में बहुत विकार आ गये दूसरे परिस्थितियों में भारी उलटफेर हो गया । मुख्यतया इन दो कारणों से उस समय के उपयोगी रीति-रिवाज आज के समाज के लिए अनुपयोगी हो गये हैं। इस प्रकार रीति रिवाजों का जो हार किसी समय समाज के लिए अलंकार था, वह आज बेड़ी बन गया है। इन बेड़ियों से जकड़ा हुआ समाज आज तड़फ रहा है । और जब उनमें परिवर्तन करने की बात आती है तो लोग कहते हैं कि पहले समाज मान्य कर ले तो हम भी मान्य कर लें, समाज निर्णय कर दे तो हम भी अपना लें।

समाज-सुधार की बात चलती है तो कितने ही लोग कहते देखे जाते हैं-हमारे बड़ेरे क्या मूर्ख थे, जिन्होंने यह रिवाज चलाये-

निस्सन्देह अपने पूर्वजों के प्रति इस प्रकार आस्था का जो भाव है, यह स्वाभाविक है । किन्तु ऐसा कहने वालों को अपने पूर्वजों के कृत्यों को भलीभाँति समझना चाहिए। उन्हें समझना चाहिए कि उनके पूर्वज उनकी तरह परिस्थितिपूजक नहीं थे उन्होंने परम्परागत रीतिरिवाजों में, अपने समय और अपनी परिस्थितियों के अनुसार सुधार किये थे । उन्होंने सुधार न किये

होता और उन्होंने उन्हें ज्यों का त्यों अक्षुण्ण बनाये रक्खा होता तो हमारे सामने यह रिवाज होते ही नहीं, जो आज प्रचलित हैं। फिर तो भगवान् ऋषभदेव के जमाने में जैसी विवाहप्रथा प्रचलित हुई थी, वैसी की वैसी आज भी प्रचलित होती। मगर यह बात नहीं है। काल के अप्रतिहत प्रवाह में बहते हुए समाज ने समय समय पर सैकड़ों परिवर्तन किये हैं। यह सब परिवर्तन करने वाले आपके पूर्वज ही थे। आपके पूर्वज स्थितिपालक नहीं थे। वे देश और काल को समझ कर अपने रीति रिवाजों में परिवर्तन करना जानते थे और समय समय पर परिवर्तन करते रहते थे। इसी कारण तो आपका समाज आज तक टिका हुआ है। सामयिक परिवर्तन के बिना समाज टिक नहीं सकता।

एक बात और बतला दीजिए। आपके बडेरे जो पोशाक पहनते थे वही पोशाक आप पहनते हैं? आपके पूर्वज जो व्यापार-धंधा करते थे, वही आप करते हैं? आपके पुरखा जहाँ रहते थे वहीं आप रहते हैं? आपका आहार-विहार अपने पूर्वजों के आहार-विहार के ही समान है? अगर इन सब बातों में परिवर्तन कर लेने पर भी आप अपने पूर्वजों की अवगणना नहीं कर रहे हैं और उनके प्रति आपकी आस्था बरकरार है तो क्या कारण है कि सामाजिक रीति रिवाजों में परिवर्तन कर लेने पर भी वह आस्था बरकरार नहीं रह सकती?

मैं तो यह कहना चाहता हूँ कि अगर आपकी आस्था अपने पूर्वजों के प्रति सच्ची है, तो आपको उनके चरण चिह्नों पर चलना चाहिए, आपको उनका अनुकरण और अनुसरण करना चाहिए। जैसे उन्होंने अपने समय में परिस्थितियों के अनुकूल सुधार करके समाज को जीवित रक्खा और अपनी बुद्धिमत्ता का परिचय दिया, उसी प्रकार आपको भी परिस्थितियों के अनुकूल सुधार करके, आये

हुए विकारों को दूर करके समाज को नवजीवन देना चाहिए और अपनी बुद्धिमत्ता का परिचय देना चाहिए।

वह पुत्र किस काम का है जो अपने पूर्वजों की प्रशंसा के पुल तो बाँधता है, किन्तु जीवन में उनके अच्छे कार्यों का अनुकरण नहीं करता! सपूत तो वह है जो पूर्वजों की भाँति, आगे आकर, समाज की कुरीतियों में सुधार करता है और इस बात की परवाह नहीं करता कि दूसरे सुधार नहीं करते तो मैं कैसे करूँ। पूर्वजों ने इस प्रकार की कायरता नहीं दिखलाई थी तो मैं आज कायरता क्यों दिखलाऊँ।

आज सब जगह यही प्रश्न अटका हुआ है। प्राय सभी यह सोचते रहते हैं और सारे भारत को इसी मनोवृत्ति ने घेर रक्खा है कि दूसरे कर दें और हम उपयोग कर लें। दूसरे तैयार कर दें और हम खा लिया करें। दूसरे कपड़े तैयार कर दें तो हम पहन लें। दूसरे सड़क बना दें तो हम चल लिया करें। स्वय कोई पुरुषार्थ नहीं कर सकते, प्रयत्न नहीं कर सकते और जीवन के संघर्ष में टक्कर नहीं ले सकते। अपना सहयोग दूसरों के साथ न जोड़ कर सब यही सोचते हैं कि दूसरे पहले कर लें तो मैं उसका उपयोग कर लूँ और उससे लाभ उठा लूँ।

आज समाज सुधार की बातें चल रही हैं। जिन बातों का सुधार करना है, वे किसी जमाने में ठीक रही होंगी, किन्तु अब परिस्थिति पलट गई है और वह बातें भी सड़-गल गई हैं और उनके कारण समाज बर्बाद हो रहा है, दर्द अनुभव कर रहा है, किन्तु जब उनमें सुधार करने का प्रश्न आता है तो कहा जाता है कि पहले समाज ठीक कर दे तो मैं ठीक कर लूँ, समाज रास्ता बना दे तो मैं चलने को तैयार हूँ। इस प्रकार किसी को आगे बढ कर पुरुषार्थ नहीं करना है।

जब तक मनुष्य सम्मान पाने और अपमान से बचने का भाव नहीं त्याग देता, तब तक वह समाज-उत्थान के पथ पर अग्रसर नहीं हो सकता। ऐसा मनुष्य कभी समाज-सुधार के लिए नेतृत्व नहीं ग्रहण कर सकता।

काल के प्रवाह में बहते-बहते जो रिवाज सड़-गल गये हैं, उनके प्रति भी समाज को मोह हो जाता है। समाज सड़े-गले शरीर को भी छाती से चिपटा कर चलना चाहता है। अगर कोई चिकित्सक उस सड़े-गले हिस्से को अलग करना चाहता है, और समाज के दर्द को दूर करना चाहता है और ऐसा करके समाज के जीवन की रक्षा करना चाहता है तो समाज तिलमिला उठता है, चिकित्सक को गालियाँ देता है और उसका अपमान करता है। किन्तु उस समय समाज-सेवक का क्या कर्त्तव्य है? उसे यह नहीं सोचना है कि मैं जिस समाज की भलाई के लिए काम करता हूँ, वही समाज मेरा अपमान करता है तो मुझे क्यों इस झंझट में पड़ना चाहिए? मैं क्यों आगे आऊँ?

एक आचार्य कहते हैं कि जो तू चाहता है कि समाज में जागृति और क्रांति ला दूँ और तू चाहता है कि समाज के पुराने ढाँचे को तोड़ कर नया ढाँचा रच दूँ, तो आगे आने के लिए तुझे नक्कू बनना पड़ेगा और पहले पहल अपमान की चोट सहनी पड़ेगी। नहीं सहेगा तो आगे कैसे बढ़ेगा?

अपमानं पुरस्कृत्य, मानं कृत्वा तु पृष्ठत ।

यदि तू समाज में क्रान्ति लाना चाहता है और समाज में नवीन जीवन पैदा करना चाहता है तो तू अपमान को देवता बना कर चल और यह समझ ले कि जहाँ भी जाऊँगा, मुझे अपमान का स्वागत करना पड़ेगा। तू सम्मान की ओर से पीठ फेर ले और

समझ ले कि 'सारी जिन्दगी से मान से तेरी भेंट नहीं होने वाली है। और यह भी कि मुझे ईसा की तरह शूली पर चढ़ना होगा और फूलों की सेज पर बैठना मेरे भाग्य में नहीं बदा है। जब ऐसी लहर लेकर चलेगा तभी समाज का निर्माण कर सकेगा।

मनुष्य टूटी-फूटी चीज को जल्दी सुधार देता है उस पर रंग रोगन करना होता है तो भी जल्दी कर देता है और सुन्दर सजा कर खड़ी कर देता है। दीवारों पर चित्र बनाने हैं तो सहज ही बनाये जा सकते हैं। एक कलाकार लकड़ी या पत्थर का टुकड़ा लेता है और उस काट छाँट कर जल्दी रूप दे देता है। कलाकार के अन्तस्तल में जो भी भावना है उसी को वह मूर्त्त रूप दे देता है। क्योंकि यह सब चीजें निर्जीव हैं और कर्त्ता का प्रतिरोध नहीं करती हैं, कर्त्ता की भावना के अनुरूप बनने में कोई हिचकिचाहट नहीं करती हैं।

किन्तु समाज ऐसा नहीं है। वह निर्जीव नहीं है, जागृत है, उसे पुरानी चीजों को पकड़ रखने का मोह है और हठ है। जब कोई भी समाज-सुधारक उसे सुन्दर रूप में बदलने के लिए चलता है तो समाज वह काठ की तरह चुपचाप नहीं बैठेगा कि कोई भी आरी चलाता रहे। समाज की ओर से विरोध होगा और सुधारक को उसका डटकर सामना करना पड़ेगा।

सभा में बैठ कर प्रस्ताव पास कर लेने मात्र से भी समाज-सुधार होने वाला नहीं है। ऐसा होता तो कभी का हो गया होता। समाज सुधार के लिए तो समाज से लड़ना होगा, किन्तु यह लड़ाई क्रोध की नहीं, प्रेम की लड़ाई होगी।

डॉक्टर बच्चे के फोड़े की चीराफाड़ी करता है तब बच्चा गालियाँ देता है और चीराफाड़ी न कराने के लिए अपनी सारी

शक्ति खर्च कर देता है, डॉक्टर उस पर क्रोध नहीं करता, दया करता है और मुस्करा कर अपना काम करता चला जाता है। जब बच्चे को आराम हो जाता है तो वह अपनी गालियों के लिए पश्चात्ताप करता है। सोचता है-उन्होंने तो मेरे आराम के लिए काम किया और मैं ने उन्हें गालियाँ दीं। यह मेरी कैसी नादानी थी!

इसी प्रकार समाज की किसी भी बुराई के मवाद को निकालने के लिए दवा करोगे तो समाज चिल्लाएगा और छटपटाएगा, किन्तु आपको समाज को बुरा-भला नहीं कहना है। आपको मुस्कराते हुए, सहज भाव से, चुपचाप, आगे बढना है और उस हलाहल विष को भी अमृत के रूप में ग्रहण करके बढना है। यदि समाज-सुधारक ऐसी भूमिका पर आ गया है तो वह आगे बढ सकेगा और कोई भी शक्ति उसे नहीं रोक सकेगी।

भगवान् महावीर बड़े क्रान्तिकारी थे। जब वे भारत में आये तब धार्मिक क्षेत्र में सामाजिक क्षेत्र में और दूसरे दूसरे क्षेत्रों में भी अनेक बुराइयाँ घुसी हुई थीं। उन्होंने अपनी साधना परिपूर्ण करने के पश्चात् धर्म और समाज में जबर्दस्त क्रान्ति की थी।

भगवान् ने जाति-पाँति के बन्धनों के विरुद्ध सिंहनाद किया और कहा कि मनुष्य मात्र एक ही जाति है। मनुष्य-मनुष्य के बीच कोई अन्तर नहीं है। लोगों ने कहा-यह नई बात कैसे कह रहे हो? हमारे बटेरे कोई मूर्ख नहीं थे। किन्तु भगवान् ने इस चिल्लाहट की परवाह नहीं की और वे कहते ही रहे—

मनुष्यजातिरेकैव जातिकर्मोदयोद्भवा ।

जाति नामक कर्म के उदय से मनुष्य जाति एक ही है। उसके टुकड़े नहीं किये जा सकते। उसमें जन्मत ऊँच-नीच की कल्पना को कोई स्थान नहीं हो सकता।

फिर भगवान् ने कहा–तुम महिला-समाज को गुलामों की तरह देख रहे हो, किन्तु वे भी समाज का महत्त्वपूर्ण अंग हैं। उन्हें समाज में उचित स्थान नहीं दोगे तो समाज में समरसता नहीं आ सकेगी।

तब भी हजारों लोग चिल्लाए। कहने लगे- यह कहाँ से ले आए? स्त्रियाँ तो समाज-सेवा के लिए बनी हैं, उन्हें कोई ऊँचा स्थान नहीं दिया जा सकता है।

मगर भगवान् ने शान्त-भाव से जनता को अपनी बात समझाई और अपने संघ में साध्वियों को वही स्थान दिया जो साधुओं को प्राप्त था और श्राविकाओं को भी उसी ऊँचाई पर पहुँचाया, जिस पर श्रावक आसीन थे। भगवान् ने किसी भी अधिकार से महिला जाति को वंचित नहीं किया–सब क्षेत्रों में पुरुषों के ही समान सब अधिकार दिये।

यज्ञ के नाम पर हजारों पशुओं का बलिदान किया जा रहा था। पशुओं पर घोर अत्याचार था, घोर पाप था और समाज के पशुधन का कत्लेआम था। यज्ञों में हिंसा तो थी ही, किन्तु यज्ञों की बदौलत आर्थिक स्थिति भी डाँवाडोल हो रही थी। भगवान् ने इन हिंसात्मक यज्ञों का स्पष्ट शब्दों में विरोध किया।

उस समय समाज की बागडोर ब्राह्मणों के हाथ में थी। राजा थे और वे क्षत्रिय थे और वही प्रजा पर शासन करते थे, किन्तु राजा पर शासन ब्राह्मण लोगों का था। इस रूप में उन्हें राजशक्ति भी प्राप्त थी और प्रजा के मानस पर भी उनका आधिपत्य था। वास्तव में ब्राह्मणों का उस समय बड़ा वर्चस्व था, और यज्ञों की बदौलत हजारों-लाखों ब्राह्मणों का पालन-पोषण होता था। ऐसी स्थिति में कल्पना की जा सकती है कि भगवान् महावीर के यज्ञविरोधी स्वर का कितना प्रचण्ड विरोध हुआ होगा। खेद है कि उस समय का कोई

सिलसिलेवार इतिहास हमें उपलब्ध नहीं है, जिससे हम समझ सकें कि यज्ञों का विरोध करने के लिए भगवान् महावीर को कितना संघर्ष करना पड़ा और क्या-क्या सहन करना पड़ा। फिर भी आज जो सामग्री उपलब्ध है, उसके आधार पर कहा जा सकता है कि उनका डट कर विरोध किया गया और खूब बुरा-भला कहा गया। पुराणों के अध्ययन से विदित होता है कि उन्हें नास्तिक और आसुरी प्रकृति वाला कहा गया और अनेक तिरस्कारपूर्ण शब्दों की भेंट चढ़ाई गई। उन पर समाज को भंग करने का दोषारोपण किया गया।

अभिप्राय यह है कि अपमान का उपहार तो तीर्थङ्करों को भी मिला है। ऐसी स्थिति में हम और आप चाहें कि हमें सब जगह सन्मान ही सन्मान मिले, तो यह कदापि होने वाला नहीं है। समाज सुधारक का मार्ग फूलों का नहीं, काँटों का मार्ग है। उसे सन्मान पाने की अभिलाषा त्याग कर अपमान का आलिंगन करने को तैयार होना होगा, उसे प्रशंसा की इच्छा छोड़कर निन्दा का जहर पीना होगा, फिर भी शान्त और स्थिर भाव से सुधार के पथ पर चले चलना होगा।

समाज-सुधारक कदम-कदम चलेगा। वह आज एक सुधार करेगा तो कल दूसरा सुधार करेगा। पहले छोटे छोटे टीले तोड़ेगा तो एक दिन हिमालय भी तोड़ देगा।

इस प्रकार नयी जागृति और साहसमयी भावना लेकर समाज-सुधार के पथ पर अग्रसर होना पड़ेगा और अपने जीवन को प्रशस्त बनाना पड़ेगा। ऐसा न हुआ तो समाज-सुधार की बातें भले हो जाएँ, समाज-सुधार नहीं होगा।

स्मरण रखिए, आज का समाज गालियाँ देगा किन्तु भविष्य का समाज 'समाजनिर्माता' के रूप में आपको स्मरण करेगा। आज

का समाज आपके सामने काँटे बिखेरेगा, परन्तु भविष्य का समाज श्रद्धा की अजलियाँ भेंट करेगा। अतएव आप भविष्य की ओर निगाह रखकर और समाज के वास्तविक कल्याण का खयाल करके, अपने मूल केन्द्र को सुरक्षित रखते हुए, समाज-सुधार के प्रशस्त कार्य में जुट जाएँ। भविष्य आपका है।*

२२-१०-५०

* जैन नवयुवक मण्डल, ब्यावर द्वारा आयोजित 'समाज-सुधार' विषय पर किया गया प्रवचन।

: २ :

विद्यार्थी-जीवन

●

आज छात्रों के संबंध में कुछ कहना है। मगर देखता हूँ कि जो छात्र हैं और जिनके संबंध में आज मुझे कहना है, वे मेरे सामने नहीं हैं और वही पुराने साथी-प्रतिदिन के श्रोता-मेरे सामने अधिक संख्या में बैठे दिखाई देते हैं। किंतु सिद्धांत की बात यह है कि छात्र-जीवन का संबंध किसी उम्र-विशेष के साथ नहीं है। यह भी नहीं है कि जो किसी पाठशाला, विद्यालय या महाविद्यालय में नियमित रूप से पढ़ते हैं, वही छात्र कहलाएँ। मैं समझता हूँ कि जिसमें जिज्ञासावृत्ति वर्त्तमान है, जिसे कुछ भी नूतन जानने की इच्छा है, वह मनुष्य मात्र विद्यार्थी है, चाहे वह किसी भी उम्र का हो और किसी भी परिस्थिति में रहता हो। और यह जिज्ञासा की वृत्ति किसमें नहीं होती? जिसमें चेतना है, जीवन है, उसमें जिज्ञासा भी होती है, कम से कम होनी तो चाहिए ही। इस लिहाज से प्रत्येक मनुष्य, जन्म से लेकर मृत्यु की आखिरी घड़ी तक विद्यार्थी ही रहता है।

इस दृष्टिकोण से आपमें जो बड़े-बूढ़े हैं, वे यह न समझ [illegible] कि हम विद्यार्थी की अवस्था को पार कर चुके हैं और आज जो कुछ कहा जा रहा है, उससे हमें कोई सरोकार नहीं है। अलबत्ता जिन्होंने अपने जीवन में सत्य का प्रकाश प्राप्त कर लिया है और जिनकी चेतना पूर्णता पर पहुँच चुकी है, आगम की वाणी में जिन्होंने सर्वज्ञता पा ली है, वे विद्यार्थी न रह कर विद्याधिपति हो जाते हैं उन्हें आगम में 'स्नातक' कहते हैं। और जिन्होंने शास्त्रोक्त इस स्नातक दशा को प्राप्त नहीं कर पाया है, भले किसी विश्वविद्यालय के स्नातक हो चुके हों, वास्तव में विद्यार्थी ही हैं।

इस दृष्टि से मनुष्य मात्र विद्यार्थी है और उसे विद्यार्थी बनकर ही रहना चाहिए। इसी में जीवन का विकास है।

अपने जीवन में मनुष्य विद्यार्थी ही है और साथ ही मनुष्य ही विद्यार्थी है। आप जानते हैं कि नरक और स्वर्ग में पाठशालाएँ नहीं हैं। और पशुयोनि में हजारों जातियाँ हैं, मगर उनके लिए भी कोई स्कूल नहीं खोले गये हैं। आम तौर पर पशुओं में तत्त्व के प्रति कोई जिज्ञासा नहीं होती और जीवन को समझने की भी कोई लगन नहीं देखी जाती।

तो एक तरफ सारा संसार है और एक तरफ मनुष्य है। जब हम इस विराट संसार की ओर दृष्टिपात करते हैं तो जगह-जगह मनुष्य की छाप लगी हुई दिखाई देती है और जान पड़ता है कि मनुष्य ने ही संसार को इतनी विराटता प्रदान की है।

मनुष्य ने संसार को जो विराट रूप प्रदान किया, उसके मूल में उसकी जिज्ञासा ही प्रधान रही है। ऐसी प्रबल जिज्ञासा मनुष्य में ही पाई जाती है, अतएव विद्यार्थी का पद भी मनुष्य को ही मिला है। देवता भले कितनी ही ऊँचाई पर रहते हों, उनको भी विद्यार्थी

का महत्त्वपूर्ण पद प्राप्त नहीं है। नरक योनि में भी नहीं है और हमारे पड़ोसी जो पशु-पक्षी हैं, उनमें भी यह पद नहीं है। यह तो मनुष्य ही है जो विचार और प्रकाश लेने को आगे बढा है और जिसने अपने मस्तिष्क के दरवाजे खोले हैं और जो दूसरों से रोशनी लेने और देने के लिए आगे बढा है।

तो मनुष्य का जो मस्तिष्क है, वह एक विराट मस्तिष्क है और वह केवल हड्डियों का ढाँचा ही नहीं है जो सिर के रूप में खड़ा हो गया है। वह केवल शरीर को ऊँचा बनाने के लिए नहीं है, उसमें देने को भी बहुत कुछ भरा है।

आप देखें और सोचें कि कर्मभूमि के प्रारभ में, जब मनुष्य-जाति का विकास प्रारभ हुआ, तब मनुष्य को क्या मिला था? भगवान् ऋषभदेव के समय में उसको कवल बडे बड़े मैदान, लम्बी-चौडी जमीन और नदी नाले ही तो मिले थे। मकान के नाम पर एक झोंपडी भी नहीं थी और वस्त्र के नाम पर एक धागा भी नहीं था। रोटी पकाने के लिए न अन्न का एक भी दाना था, न बरतन थे, न चूल्हा था न चक्की थी। कुछ भी तो नहीं था। मतलब यह कि एक तरफ मनुष्य खड़ा था और दूसरी तरफ सृष्टि थी, पर वह मौन और चुप थी। जमीन भी मौन थी।

उसके बाद इतना विराट ससार खडा हुआ और नगर बस गए और मनुष्य ने नियत्रण कायम किया और उत्पादन किया। मनुष्य ने स्वय खाया और खिलाया। स्वय के तन ढँके और दूसरों के तन ढाँके। और उसने दुनिया में ही तैयारी नहीं की, किन्तु उससे आगे का भी मार्ग तय किया और अन त अनन्त भूत और भविष्य की बातें खड़ी हो गई और विराट चिन्तन हमारे सामने आ गया।

मगर उस समय क्या था ? युगलियों के काल में मनुष्य पृथ्वी पर पशुओं की भाँति घूम रहा था। उसके मन में न इस दुनिया को और न अगली दुनिया को बनाने का प्रश्न था। वह न यहाँ के लिए कोई तैयारी कर रहा था। फिर यह सब कहाँ से आया? उसने नई सृष्टि बनाकर खड़ी कर दी, वह युगों तक प्रकृति के साथ संघर्ष करता रहा और एक दिन उसने प्रकृति और भूमि पर अपना नियन्त्रण स्थापित कर लिया।

मनुष्य को बाहर की प्रकृति से ही नहीं, अन्दर की प्रकृति से भी लड़ना पड़ा, अर्थात् अपनी क्रोध, मान, माया, लोभ आदि की वासनाओं से भी लड़ना पड़ा। उसने हृदय को भी खोल कर देख लिया और समझ लिया कि यह हमारे कल्याण का और यह अकल्याण का मार्ग है और यह हमारे जीवन में तथा राष्ट्र के जीवन में क्या उपयोगी है?

मनुष्य ने एक तरफ प्रकृति का विश्लेषण किया और दूसरी तरफ अपने अन्दर के जीवन का विश्लेषण किया कि हमारे भीतर कहाँ नरक और स्वर्ग बन रहे हैं? बन्धन खुल रहे हैं या बँध रहे हैं? हम इस रूप में संसार में आये हैं, तो अपने जीवन को अच्छा बना कर लौटेंगे या खराब बना कर?

इस प्रकार बहिर्जगत् का और अन्तर्जगत् का जो चिन्तन मनुष्य के पास आया, वह कहाँ से आया? यह सब मनुष्य के मस्तिष्क से ही आया है, मनुष्य के मस्तिष्क से ही सारी धाराएँ फूटी हैं। यह अलङ्कार, काव्य, दर्शनशास्त्र और व्याकरण-शास्त्र आदि आदि मानवीय-मस्तिष्क से ही निकले हैं। आज हम ज्ञान और विज्ञान का जो भी विकास देखते हैं, सभी कुछ मनुष्य के ही मस्तिष्क की देन है। मनुष्य अपने मस्तिष्क पर भी विचार करता है

और खोज करता है और सोचता है कि मुझे जीवन की धाराएँ मिली हैं, उनमें से संसार को क्या देना है और ससार से क्या लेना है ?

अभिप्राय यह है कि मनुष्य ने अपनी अविराम जिज्ञासा की प्रेरणा से ही विश्व को यह रूप प्रदान किया है। वह निरन्तर बढता जा रहा है और विश्व को निरन्तर अभिनव स्वरूप प्रदान करता जा रहा है। मगर यह सब तभी संभव हुआ जब कि वह प्रकृति की पाठशाला में एक नम्र विद्यार्थी होकर दाखिल हुआ। इस रूप में मनुष्य अनादि काल से विद्यार्थी रहा है और जब तक विद्यार्थी रहेगा, तब तक उसका विकास बराबर होता रहेगा।

अक्षरों की शिक्षा ही सब कुछ नहीं है। कोरी अक्षर-शिक्षा से जीवन का विकास नहीं हो सकता। जब तक अपने और दूसरे के जीवन का अच्छा अध्ययन नहीं है, पैनी बुद्धि नहीं है समाज और राष्ट्र की गुत्थियों को सुलझाने की और अमीरी तथा गरीबी के प्रश्न को हल करने की क्षमता नहीं आई है, तब तक शिक्षा की कोई उपयोगिता नहीं है। केवल पढ लेने का अर्थ शिक्षा नहीं है। एक आचार्य ने कहा है —

शास्त्राण्यधीत्यापि भवन्ति मूर्खा ।

बडे-बडे पोथे पढ़ने वाले भी मूर्ख होते हैं। जिसने शास्त्र घोट घोट कर कण्ठस्थ कर लिये हैं किंतु अपने परिवार, समाज और राष्ट्र के जीवन को ऊँचा उठाने की बुद्धि नहीं पाई है, उसके शास्त्र चिंतन और रटन का कोई अर्थ नहीं है। कहा है—

जहा खरो चंदण भारवाही,
भारस्स भागी न हु चंदणस्स ।

—आवश्यक निर्युक्ति।

गधे की पीठ पर चन्दन की बोरियाँ भर-भर कर लाद दी गई और काफी वजन लाद दिया गया, तो भी उस गधे के भाग्य में क्या है ? जो बोरियाँ लद रही हैं वे उसके लिए क्या है ? उसकी तकदीर में तो बोझ ढोना ही बदा है। उसके ऊपर चाहे मिट्टी और लकड़ियाँ लाद दी जाएँ या हीरे और जवाहरात लाद दिये जाएँ, वह तो वजन ही महसूस करेगा। चन्दन की सुगन्ध का महत्त्व और मूल्य उसके भाग्य में नहीं है।

तो आचार्य ने कहा है—कुछ लोग शास्त्रों को और विद्याओं को, फिर चाहे वह इस लोक-संबंधी हों या परलोक-संबंधी हों, भौतिक विद्याएँ हों या आध्यात्मिक विद्याएँ हों, अपने मस्तक पर लादे चले जा रहे हैं, वे केवल उस गधे की तरह भार ढोने वाले ही हैं। वे दुनिया भर की दार्शनिकता बघार देंगे, व्याकरण की फक्किकाएँ रट कर शास्त्रार्थ कर लेंगे, परन्तु उससे होना क्या है ? उसके जीवन में तो बिन्दियाँ ही हैं ! क्रियाहीन कोरे ज्ञान की क्या कीमत है ? वह ज्ञान ही क्या और वह विद्या ही कैसी, जो आचरण का रूप न लेती हो ! जो संसार की बेड़ियाँ न तोड़ सकती हो ! ऐसी विद्या वन्ध्या है, ज्ञान निष्फल है और शिक्षा तोतारटंत के सिवाय और कुछ भी नहीं है। महर्षि मनु ने विद्या की सार्थकता बतलाते हुए कहा है—

'सा विद्या या विमुक्तये।'

विद्या वही है जो हमें संसार से मुक्ति दिलाने वाली हो, हमें स्वतन्त्र करने वाली हो, हमारे बन्धनों को तोड़ देने वाली हो।

मुक्ति का अर्थ है-स्वतन्त्रता। समाज की कुरूढ़ियों, कुसंस्कारों, अंधविश्वासों, गलतफहमियों और वहमों से, जिससे वह जकड़ा हो, छुटकारा पाना ही सच्ची स्वतन्त्रता है।

आज के अधिकांश विद्यार्थी गरीबी, हाहाकार और रुदन के बंधनों में पड़े हैं, फिर भी फैशन की फाँसी उनके गले में लगी हुई है। मैं विद्यार्थियों से पूछता हूँ क्या तुम्हारी विद्या ने इन बंधनों को तोड़ा है? क्या तुम्हारी शिक्षा इन बन्धनों की दीवार को तोड़ने को तैयार है? अगर तुम अपने बन्धनों को ही तोड़ने में समर्थ नहीं हो तो अपने देश, जाति और समाज के बन्धनों को तोडने में कैसे समर्थ हो सकोगे? पहले अपने जीवन के बन्धनों को तोडने का सामर्थ्य प्राप्त करो तो राष्ट्र की भी जंजीरें तोड़ने में समर्थ हो सकोगे और समाज के भी बन्धनों को काटने के लिए शक्तिमान् हो सकोगे। और यदि तुम्हारी शिक्षा इन बन्धनों को भी तोडने में समर्थ नहीं हैं, तो समझ लो कि वह अभी अधूरी है और उसका फल तुम्हें नहीं मिल रहा है।

और यदि तुमने अध्ययन करके चतुराई, ठगने की कला और धोखा देने की विद्या सीखी है, तो कहना चाहिए कि तुमने शिक्षा नहीं पाई, कुशिक्षा पाई है और स्मरण रखना चाहिए कि कुशिक्षा, अशिक्षा से भी अधिक हानिकारक होती है। कभी कभी पढ़े-लिखे आदमी ज्यादा मक्कारियाँ मार लेते हैं। मगर उनकी शिक्षा, शिक्षा नहीं है, वह कला, कला नहीं है, वह तो धोखेदेही है और अपने जीवन को बर्बाद कर देने की युक्ति है।

शिक्षा का वास्तविक लक्ष्य क्या है? अज्ञान को दूर करने के लिए शिक्षा प्राप्त की जाती है। मनुष्य में जो शारीरिक, मानसिक और आत्मिक शक्तियाँ मौजूद हैं और जो दबी हुई पडी हैं, उन्हें प्रकाश में लाना ही शिक्षा का उद्देश्य है। मगर इस उद्देश्य की पूर्ति तब होती है, जब शिक्षा के फलस्वरूप जीवन में सुसंस्कार उत्पन्न होते हैं। केवल शक्तियों के विकास में शिक्षा की सफलता नहीं है, किन्तु शक्तियाँ विकसित होकर जब जीवन के सुन्दर निर्माण में

प्रयुक्त होती है, तभी शिक्षा सफल होती है। बहुत-से लोग यह समझ बैठे हैं कि दिमाग की शक्ति का विकास हो जाना ही शिक्षा का उद्देश्य है। मगर यह समझ अधूरी है। मनुष्य के दिमाग के साथ, दिल का और देह का भी विकास होना चाहिए अर्थात् मनुष्य का सर्वांगीण विकास होना चाहिए और वह विकास अपनी और अपने समाज एव देश की भलाई के काम आना चाहिए। तभी शिक्षा सार्थक हो सकती है।

जो छात्र प्रारंभ से ही अपने इस लक्ष्य का ध्यान रखता है, वही अपने भविष्य का सुन्दर निर्माण कर सकता है और वही आगे जाकर देश और समाज का रत्न बन सकता है। बड़ी से बड़ी पदवियाँ उनके चरणों में आकर लोटती हैं। प्रतिष्ठा उसके सामने हाथ जोड़ कर खड़ी रहती है। सफलताएँ उनके चरण चूमती हैं।

परन्तु यह सब होता है तभी जब विद्याध्ययन-काल से ही विद्यार्थी अपने लक्ष्य को समझे, उस पर चलने का प्रयत्न निरन्तर करता रहे और पूरी तरह सावधान रहे। ऐसा करने पर ही भविष्य में उसकी विद्या सुफलदायिनी होती है।

विद्यार्थी-जीवन एक उगता हुआ पौधा है। उसे प्रारंभ से ही सार-सँभाल कर रक्खा जाय तो वह विकसित हो सकता है। बड़ा होने पर उस पौधे को सुन्दर बनाना माली के हाथ की बात नहीं है। आपने देखा होगा—घड़ा जब तक कच्चा होता है, तब तक कुम्भार उसे अपनी इच्छा के अनुरूप, जैसा चाहे वैसा, बना सकता है। किन्तु वही घड़ा जब आपाक में पक जाता है, तब कुम्भार की ताकत नहीं कि वह उसे छोटा या बड़ा बना सके, उसकी आकृति में कोई परिवर्तन कर सके या दूसरे रूप में ढाल सके।

यही बात छात्रों के संबंध में है। माता-पिता चाहें तो प्रारंभ से ही बालकों को सुन्दर शिक्षा और संस्कारों के वातावरण में रखकर उन्हें होनहार नागरिक बना सकते हैं। माता-पिता अपने स्नेह और आचरण की पवित्र धारा से देश के नौनिहाल बच्चों का जीवन सुधार सकते हैं। बालक माता-पिता के हाथ का खिलौना है। चाहें तो उसे बिगाड़ सकते हैं और चाहें तो सुधार सकते हैं। देश के सपूतों को बनाना उन्हीं के हाथ में है।

दुर्भाग्य से आज इस देश में चारों ओर घृणा, द्वेष, छल और पाखण्ड भरा हुआ है। माता पिता कहलाने वालों में भी यह दुर्गुण भरे पड़े हैं। ऐसी स्थिति में वे अपने बच्चों में सुन्दर संस्कारों का आरोपण किस प्रकार कर सकते हैं? प्रत्येक माता-पिता को सोचना चाहिए कि हमारी जिम्मेवारी केवल संतान को उत्पन्न करने में ही पूर्ण नहीं हो जाती। संतान उत्पन्न करने पर तो जिम्मेवारी आरंभ होती है और जब तक सन्तान को सुशिक्षित एवं सुसंस्कारसम्पन्न नहीं बना दिया जाता, तब तक वह पूरी नहीं होती।

आज, जब कि हमारे देश का नैतिक स्तर नीचा हो रहा है, छात्रों के जीवन का निर्माण करने की बड़ी आवश्यकता है। छात्रों का जीवन-निर्माण न सिर्फ घर पर होता है, न केवल शाला में ही। बालक घर में संस्कार और शाला में शिक्षा ग्रहण करता है। दोनों उसके जीवन निर्माण के स्थल हैं। अतएव यह कहने की आवश्यकता ही नहीं कि घर और शाला में आपस में सहयोग स्थापित होना चाहिए और दोनों जगह का वायुमण्डल एक दूसरे का पूरक और समर्थक होना चाहिए।

आज घर और शाला में कोई सम्पर्क नहीं है। अध्यापक विद्यार्थी के घर से एकदम अपरिचित रहता है। उसे उसके घर के

वातावरण की कल्पना उसे नहीं होती। और माता पिता प्राय शाला से अनभिज्ञ होते हैं। शाला में जाकर बालक क्या सीखता है और करता है, और कितने माँ-बाप ध्यान देते हैं? बालक स्कूल चला और माता-पिता को छुट्टी मिल गई। फिर चाहे वह वहाँ जाकर कुछ भी करे और कुछ भी सीखे, इससे उन्हें कोई मतलब नहीं है। यह परिस्थिति बालक के जीवन निर्माण में बहुत बाधक होती है।

घर और शाला के वायुमडल में भी अकसर विरूपता देखी जाती है। शाला में बालक नीति की शिक्षा लेता है और सचाई का पाठ पढ़कर आता है। वह जब घर आता है या दुकान पर जाता है तो वहाँ असत्य का साम्राज्य देखता है। बात बात में माता पिता असत्य का प्रयोग करते हैं। शिक्षक सत्य बोलने की शिक्षा देता है और माता-पिता अपने व्यवहार से उसे असत्य बोलने का सबक सिखलाते हैं। इस तरह के परस्पर विरोधी वातावरण में पड़ कर बालक लड़खड़ाने लगता है। वह निर्णय नहीं कर पाता कि मुझे शिक्षक के बताये मार्ग पर चलना चाहिए अथवा माता पिता द्वारा प्रदर्शित पथ पर चलना चाहिए? कुछ समय तक उसके अन्त करण में संघर्ष चलता रहता है और फिर वह एक नतीजा निकाल लेता है। नतीजा यह कि सत्य बोलने की बात कहना चाहिए, पर जीवन व्यवहार में असत्य का ही प्रयोग करना चाहिए। इस प्रकार का नतीजा निकाल कर वह छल-कपट और धूर्तता सीख जाता है। उसके जीवन में विरूपता आ जाती है। वह नीति की बातें कहता है और अनीति की राह पर चलता है।

तो माता-पिता यदि बालक में नैतिकता चाहते हैं तो उन्हें अपने घर को भी शाला का रूप देना चाहिए। बालक शाला से जो सबक सीख कर आये, घर उसके प्रयोग की भूमि बन जाएगा, तो

उसका जीवन भीतर-बाहर से एकरूप बनेगा और उसमें उच्च श्रेणी की नैतिकता पनप सकेगी। वह अपनी जिंदगी को शानदार बना सकेगा। ऐसा विद्यार्थी जहाँ कहीं भी रहेगा, आगे अपने देश का, अपने समाज का और अपने माता पिता का मुख उज्ज्वल करेगा। वह पढ-लिख कर देश को रसातल की ओर ले जाने का, देश की नैतिकता का ह्रास करने का प्रयास नहीं करेगा, देश के लिए भार और कलङ्क नहीं बनेगा, बल्कि देश और समाज के नैतिक स्तर को ऊँचाई पर ले जाएगा और अपने व्यवहार के द्वारा उनके जीवन को पवित्र बनाएगा।

आज के विद्यार्थी और उनके माता-पिता के मस्तिष्क में बहुत अन्तर पड़ जाता है। विद्यार्थी पढ-लिख कर एक नये जीवन में प्रवेश करता है, एक नया कम्पन लेकर आता है, अपने भविष्यत् जीवन को अपने ढग से बिताने के मसूबे बाँध कर गृहस्थ-जीवन में प्रवेश करता है। परन्तु उसके माता-पिता पुराने दिमाग के होते हैं। पिता रहते हैं दुकान पर। उन्हें लड़के की जिज्ञासा का पता नहीं चलता और न वे उस ओर ध्यान ही देते हैं। वे ससार की ओर सोचने के लिए अपने मस्तिष्क को बन्द कर लेते हैं। पर जो नया खिलाड़ी है, वह तो हवा को पहचानता है। वह अपनी जिज्ञासा और अपने मनोरथ पूरे न होते देख कर पिता से सघर्ष करता है। आज अनेक घर ऐसे मिलेंगे, जहां पिता-पुत्र के बीच आपसी संघर्ष चलते रहते हैं। पुत्र अपनी आकांक्षाएँ पूरी होते न देख कर जीवन से हताश हो जाता है और कभी कभी चुपके से घर छोड कर भाग जाता है। आये दिन अखबारों में 'गुमशुदा की तलाश' शीर्षक सूचनाएँ बहुत कुछ इसी सघर्ष का परिणाम है। कभी कभी आवेश में आकर आत्मघात करने की नौबत आ पहुँचती है। ऐसी अनेक घटनाएँ घट चुकी हैं।

दुर्भाग्य की बात समझिए कि भारत में पिता-पुत्र के संघर्ष ने गहरी जड़ जमा ली है।

इस अवसर पर, मैं माता पिताओं से कहना चाहता हूँ कि युग पलटता जा रहा है और दुनिया बड़ी तेज रफ्तार से आगे बढ रही है। आप इस रफ्तार को पहचानें। आप जहाँ हैं, वहीं अपनी सन्तान को रखने की आपकी चेष्टा निष्फल होगी। ऐसा करने में आपका और आपकी सन्तान का कोई हित भी नहीं है, अहित भले ही हो सकता है। अतएव आप उसे अपने विचारों में बांध कर रखने का प्रयत्न न कीजिए। उसे युग के साथ चलने दीजिए। इस बात की सावधानी जरूर रखिए कि वह अनीति की राह पर न चला जाय, मगर उसके पैरों में बेड़ियाँ डालने की कोशिश न कीजिए। उसे सोचने और समझने की स्वतन्त्रता दीजिए और अपना रास्ता आप बनाने का प्रयत्न करने दीजिए।

मैं बालकों से भी कहूँगा कि वे ऐसे अवसर पर आवेश से काम न लें। वे अपने माता पिता की मानसिक भूमिका को समझें और अपने सुन्दर और शुभ विचारों पर दृढ रहते हुए भी, नम्रतापूर्वक उन्हें सन्तुष्ट करने का प्रयत्न करें। वे अपने पथ का परित्याग न करें और साथ ही माता पिता को भी व्यथा न पहुँचाएँ। शान्ति और धैर्य से काम लेने पर अन्त में उनकी विजय ही होगी।

बहुत ही माता पिता प्रगतिशील और विकासेच्छु छात्रों से लड़-झगड़ कर उनकी प्रगति को रोक देते हैं। लड़कियों के प्रति तो उनका रुख और भी कठोर होता है। लड़कियों का जीवन तुच्छ और नगण्य ही समझा जाता है।

इस प्रकार समाज में जब होनहार युवकों के निर्माण का समय आता है, तो उनके विकास पर ताला लगा दिया जाता है।

उनको अपने माता-पिता से जीवन बनाने की कोई प्रेरणा नहीं मिलती। माता-पिता उलटे उनके मार्ग में काँटे बिछा देते हैं। उन्हें रोजमर्रा की चक्की-व्यापार में जोत दिया जाता है। वे उन होनहार युवकों को पैसा बनाने की मशीन बना देते हैं, जीवन बनाने की ओर कतई ध्यान नहीं दिया जाता।

देश के हजारों नवयुवक इस तरह अपनी जिन्दगी की अमूल्य घडियों को खोकर केवल पैसे कमाने की कला में लग जाते हैं। समाज और राष्ट्र के लिए वे तनिक भी उपयोगी नहीं रहते।

लेकिन छात्रों को अपने संबंध किसी से तोड़ने नहीं हैं, सबके साथ जोड़ने हैं। हमें जोड़ना सीखना है, तोडना नहीं। तोड़ना आसान है, पर जोडना कठिन है। जो मनुष्य हर एक से जोड़ने की कला सीख जाता है, वह जीवन संग्राम में कभी हार नहीं खाता। वह विजयी होकर ही लौटता है।

सेनापति रहीम खानखाना ने अपनी सेना के सामने कहा था—

"मेरा काम तोड़ना नहीं, जोडना है। मैं तो सोने का घडा हूँ, टूटने पर सौ बार जुड जाऊँगा। मैं जीवन में चोट लगने पर टूटा हूँ, फिर भी जुड गया हूँ। मैं मिट्टी का वह घडा नहीं हूँ, जो एक बार टूटने पर फिर कभी जुड़ता ही नहीं। मैंने अपनी जिन्दगी में जुड़ना सीखा है।"

उसकी इस बात का उसकी सेना पर काफी प्रभाव पडा। उसकी सेना में कभी फूट नहीं होती थी।

तो छात्रों को सोने के घडे की तरह, माता-पिता के द्वारा चोट पहुँचने पर टूट कर भी जुड़ जाना चाहिए।

आज के छात्र की जिन्दगी कच्ची जिन्दगी है। वह एक बार थोडी-सी असफलता होने पर निराश हो जाता है। वह एक बार गिरते ही, मिट्टी के ढेले की तरह बिखर जाता है। मगर जीवन में सर्वत्र सर्वदा सफलता ही सफलता मिले और कभी असफलता का मुँह न देखना पड़े, यह संभव नहीं और सचाई तो यह है कि असफलता से टकराने के पश्चात् जब सफलता प्राप्त होती है, तो वह अधिक आनन्ददायिनी होती है। अतएव सफलता की तरह अगर असफलता का भी स्वागत नहीं कर सकते, तो कम से कम उससे हताश तो न होओ। असफल होने पर मन में धैर्य की मजबूत गांठ बाँध लो, घबराओ मत। असफलता होने पर घबराना पतन का चिह्न है और धैर्य रखना, उत्साह रखना उत्थान का चिह्न है। उत्साह सिद्धि का बीज है। छात्रों को असफलता होने पर भी गेंद की तरह उभरना सीखना चाहिए। हतोत्साह होकर अपना काम छोड नहीं बैठना चाहिए।

अभी एक-दो दिन पहले अखबार में समाचार प्रकाशित हुए थे कि अमुक छात्र ने परीक्षा में अनुत्तीर्ण होने पर आत्महत्या कर ली। इस तरह आत्महत्या करने की खबरें आये दिन समाचार पत्रों में पढ़ने को मिलती हैं। बम्बई में भी कई छात्र अनुत्तीर्ण होने पर समुद्र में डूब कर मर गए। अतएव इस वर्ष परीक्षाफल सुनाने के समय, सरकार की ओर से समुद्र तट पर कड़ा पहरा लगा दिया गया है, ताकि कोई भी छात्र डूब मर आत्महत्या न कर ले।

विद्यार्थियों के लिए यह बड़े कलंक की बात समझी जानी चाहिए। चढ़ती हुई जवानी में, जब मनुष्य उत्साह और वीर्य का पुतला होना चाहिए, उसमें असंभव को भी संभव कर दिखाने का हौंसला होना चाहिए, समुद्र को लाँघ जाने और आकाश के तारे